पंद्रहवाँ अध्याय

सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत

राजनीतिक घटनाचक्र तथा प्रशासन का विकास

सत्रहवीं सदी का पूर्वार्द्ध कुल मिलाकर भारत के लिए प्रगति और विकास का काल था। इस काल में मुगल साम्राज्य पर दो सुयोग्य बादशाहों जहाँगीर (1605-27 ई.) और शाहजहाँ (1628-58 ई.) ने शासन किया। दक्षिण भारत में भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, बीजापुर और गोलकुंडा के राज्यों ने आंतरिक शांति तथा सांस्कृतिक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कीं। मुगल शासकों ने अकबर के अधीन विकसित शासन प्रणाली को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने राजपूतों के साथ दोस्ताना रिश्ता कायम रखा और अफ़गानों तथा मराठों जैसे शक्तिशाली तत्वों के साथ मित्रता का संबंध स्थापित करके साम्राज्य के आधार को और भी अधिक विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी राजधानियों को सुंदर इमारतों से सजाया जिनमें से कई संगमरमर की बनी हुई थीं। उन्होंने मुगल दरबार को देश के सांस्कृतिक जीवन का केंद्र बनाने की कोशिशें भी कीं। मुग़लों ने भारत की पड़ोसी एशियाई शक्तियों, जैसे ईरान, उज़बेकों और उस्मानिया तुर्कों के साथ इस देश के संबंधों को स्थिरता प्रदान करने में रचनात्मक भूमिका निभाई। इस प्रकार उन्होंने भारत के विदेश व्यापार के मार्ग को और भी प्रशस्त कर दिया। विभिन्न यूरोपीय व्यापारिक रियायतों का उद्देश्य भी भारत के विदेश व्यापार को बढ़ावा देना था। लेकिन इस काल में बहुत-सी नकारात्मक बातें भी सामने आईं। शासक वर्गों की बढ़ती हुई समृद्धि का फल किसानों और मज़दूरों तक नहीं पहुँच पाया। मुगल-शासक वर्ग पश्चिमी दुनिया में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास से बेखबर रहा। गद्दी के उत्तराधिकार की समस्या से अस्थिरता उत्पन्न हुई जिससे राजनीतिक व्यवस्था और साथ ही आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए खतरा पैदा हो गया।

अकबर का ज्येष्ठ पुत्र सलीम पिता की मृत्यु के बाद बिना किसी खास कठिनाई के जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा। उसके अन्य छोटे भाई अकबर के जीवन काल में ही शराबखोरी के कारण मर चुके थे। लेकिन जहाँगीर के गद्दीनशीन होने के कुछ ही समय बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र खुसरो ने विद्रोह खड़ा कर दिया। उस काल में पिता और पुत्र के बीच गद्दी के लिए संघर्ष कोई असाधारण

बात नहीं थी। खुद जहाँगीर ने अपने पिता के खिलाफ़ विद्रोह किया था और कुछ समय तक साम्राज्य को अशांत रखा था। लेकिन खुसरो का विद्रोह ज़्यादा दिनों तक चल नहीं सका। जहाँगीर ने लाहौर के निकट एक लड़ाई में उसे हरा दिया और उसके कुछ ही दिन बाद उसे बंदी बनाकर जेल में डाल दिया गया।

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार जहाँगीर ने मेवाड़ के साथ चार दशकों से चले आ रहे संघर्ष को समाप्त कर दिया था और कैसे दकन में मलिक अंबर के साथ चल रहे झगड़े को निबटा दिया था। पूर्व में भी संघर्ष की स्थिति थी। यद्यपि अकबर ने उस क्षेत्र में अफ़गानों की शक्ति की रीढ़ तोड़ दी थी तथापि पूर्वी बंगाल में यत्र-तत्र अफ़गान सरदारों में अब भी दम-खम बाकी था। उस क्षेत्र में कई हिंदू राजा भी - जैसे जैसोर, कामरूप (पश्चिम असम), कछार आदि के राजा उनको समर्थन दे रहे थे। अपने शासन के अंतिम दौर में अकबर ने बंगाल के सूबेदार राजा मान सिंह को वहाँ से दरबार में बुला लिया था। मानसिंह की अनुपस्थिति में अफ़गान सरदार उस्मान खाँ तथा कुछ और लोगों ने मौका देखकर विद्रोह का बिगुल बजा दिया था। जहाँगीर ने मानसिंह को कुछ समय के लिए फिर बंगाल भेज दिया लेकिन स्थिति बिगड़ती ही चली गई। आखिर 1608 ई. में जहाँगीर ने इस्लाम खाँ को बंगाल की ज़िम्मेवारी सौंपी। इस्लाम खाँ प्रसिद्ध और मुगलों के पूज्य सूफी संत सलीम चिश्ती का पौत्र था। उसने स्थिति को बहुत तत्परता और समझदारी से सँभाला। उसने जैसोर के राजा सहित कई हिंदू ज़मींदारों को अपने पक्ष में मिला लिया और विद्रोहियों से निबटने के लिए सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान ढाका को अपना सदर मुकाम बना लिया। उसने सबसे पहले सोनारगाँव को जीतने का प्रयत्न किया जोकि मूसा खाँ और बारह भुइयाँ कहे जाने वाले उसके बांधवों के अधीन था। तीन साल के संघर्ष के बाद सोनारगाँव पर कब्ज़ा कर लिया गया। शीघ्र ही मूसा खाँ ने भी आत्म-समर्पण कर दिया और उसे बंदी बना कर दरबार में भेज दिया गया। उसके बाद उस्मान खाँ की बारी आई जिसे एक घमासान लड़ाई में गहरी शिकस्त दी जा चुकी थी। अब अफ़गान प्रतिरोध की रीढ़ टूट चुकी थी और दूसरे विद्रोहियों ने भी शीघ्र ही समर्पण कर दिया था। जैसोर और कामरूप को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार अब मुग़ल शक्ति के पैर पूर्व बंगाल में भली भाँति जम चुके थे। उस क्षेत्र को पूर्ण रूप से नियंत्रण में रखने के लिए राजधानी को राजमहल से हटाकर ढाका ले जाया गया जिसका तेज़ी से विकास हो रहा था।

अकबर की तरह जहाँगीर की समझ में भी यह बात आ गई कि विजय सैन्य बल से नहीं बल्कि जनता के प्रेम और सद्भावना से ही स्थायी बन सकती है। इसलिए उसने पराजित अफ़गान सरदारों तथा उनके अनुगामियों के साथ सम्मान और सहानुभूति का व्यवहार किया। कुछ समय बाद दरबार में नज़रबंद बंगाल के बहुत-से राजाओं और ज़मींदारों को छोड़ दिया गया और वे बंगाल लौट गए। यहाँ तक कि मूसा खाँ को भी रिहा कर दिया गया और उसकी जायदादें उसे वापस कर दी गईं। इस प्रकार एक लंबे अंतराल के बाद बंगाल में फिर से शांति और समृद्धि का आगमन हुआ। इस प्रक्रिया को चरम बिंदु तक ले जाते हुए अफ़गानों

को भी मुग़ल सरदारों के वर्ग में स्थान दिया गया। खान-ए-जहाँ लोदी जहाँगीर के अधीन प्रमुख अफ़ग़ान सरदार था। उसने दकन में मुग़ल साम्राज्य की बहुमूल्य सेवा की।

1622 ई. तक जहाँगीर मलिक अंबर को घुटने टेक देने के लिए मजबूर कर चुका था। मेवाड़ के साथ लंबे समय से चले आ रहे संघर्ष को मिटा चुका था और बंगाल को शांत कर चुका था। जहाँगीर अब भी कम उम्र (51 वर्ष) का ही था और मालूम होता था कि मुग़ल साम्राज्य शांति के एक लंबे युग का उपभोग करेगा। लेकिन दो घटनाओं ने स्थिति को बिलकुल उलट दिया। इनमें से एक तो थी ईरान द्वारा कंदहार की विजय जिससे मुग़ल प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा। दूसरी घटना जहाँगीर के तेज़ी से गिरते स्वास्थ्य से संबंधित थी। इससे शाहज़ादों के बीच उत्तराधिकार के लिए अंदर ही अंदर चल रही खींचतान ने खुली प्रतिद्वंद्विता का रूप ले लिया और सरदार लोग अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए सक्रिय हो उठे। इन घटनाओं ने नूरजहाँ को राजनीति के अखाड़े में उतार दिया।

नूरजहाँ

शेर अफ़ग़ान नामक एक ईरानी से नूरजहाँ का विवाह करना और बंगाल के मुग़ल सूबेदार के साथ लड़ाई में शेर अफ़ग़ान का मारा जाना, जहाँगीर के एक बुज़ुर्ग रिश्तेदार के घर नूरजहाँ का ठहरना और चार साल बाद (1611 ई.) में जहाँगीर के साथ उसका निकाह होना - नूरजहाँ के जीवन के ये सभी प्रसंग सुविदित हैं और यहाँ उन्हें दुहराने की ज़रूरत नहीं है। विचारवान इतिहासकार इस बात में विश्वास नहीं करते कि जहाँगीर उसके प्रथम पति की मृत्यु के लिए ज़िम्मेवार था। संयोग से मीना बाज़ार में जहाँगीर का उससे मिलना और विवाह कर लेना कोई असामान्य बात नहीं थी। नूरजहाँ का परिवार प्रतिष्ठित था और जहाँगीर ने अपने शासनकाल के पहले साल में ही उसके पिता इतमादुद्दौला को प्रमुख दीवान बना दिया। उसका एक बेटा खुसरो के विद्रोह में उसके साथ हो गया था जिससे कुछ समय के लिए इतमादुद्दौला को अपने पद से वंचित रहना पड़ा था, लेकिन उसे फिर से उसके पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था। इस पद पर उसकी योग्यता की परख हो चुकी थी। बाद में जब जहाँगीर से नूरजहाँ का विवाह हो गया तो उसे मुख्य दीवान बना दिया गया। परिवार के अन्य सदस्यों को भी इस वैवाहिक संबंध का लाभ मिला। उनके मनसबों के दर्जे बढ़ा दिए गए। इतमादुद्दौला योग्य, समर्थ और वफ़ादार अधिकारी साबित हुआ। दस साल बाद इतमादुद्दौला मृत्यु तक राजकाज में उसका काफ़ी प्रभाव रहा। नूरजहाँ का भाई आसफ़ खाँ भी विद्वान और योग्य व्यक्ति था। उसे खान-ए-सामान नियुक्त किया गया। यह पद उसी सरदार को दिया जाता था जिसमें सम्राट का पूर्ण विश्वास होता था। उसने अपनी बेटी का विवाह खुर्रम (शाहजहाँ) से कर दिया जो खुसरो के विद्रोह और कैद के बाद अपने पिता का विशेष प्रिय बन गया था।

कुछ आधुनिक इतिहासकारों की राय है कि अपने पिता और भाई से मिलकर तथा खुर्रम को साथ करके नूरजहाँ ने एक गुट बना लिया था जिसने जहाँगीर को पूरी तरह "साध" लिया था। नतीजा यह हुआ कि इस गुट के समर्थन के बिना

कोई भी सरकारी सेवा में तरक्की नहीं कर सकता था। इससे दरबार दो गुटों में बँट गया - नूरजहाँ का गुट और उसका विरोधी गुट। इन इतिहासकारों का यह भी कहना है कि नूरजहाँ की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के कारण अंत में उसके और खुर्रम के बीच दरार पड़ गई और इसीलिए खुर्रम ने 1622 ई. में अपने पिता के खिलाफ़ विद्रोह कर दिया। लेकिन कुछ दूसरे इतिहासकार इस राय से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि जहाँगीर की आत्मकथा से स्पष्ट है कि 1622 ई. में उसके स्वास्थ्य में गिरावट आने से पहले तक सभी महत्वपूर्ण फ़ैसले वह खुद करता था। इस दौर में नूरजहाँ की यथार्थ राजनीतिक भूमिका स्पष्ट नहीं है। शाही गृहस्थी पर उसका दबदबा था और वह फ़ारसी परंपराओं पर आधारित नए-नए फ़ैशन चलाती रहती थी। उसके प्रभाव के कारण दरबार में फ़ारसी कला और संस्कृति की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। नूरजहाँ हमेशा जहाँगीर के साथ रहती थी और चूँकि वह अच्छी घुड़सवार और निशानेबाज थी इसलिए जहाँगीर के शिकार के लिए निकलने पर भी वह साथ हो लेती थी। अतः जहाँगीर को वह प्रभावित तो कर ही सकती थी। अपनी पैरवी कराने के लिए बहुत-से लोग उसके पास पहुँचते थे। लेकिन जहाँगीर किसी गुट पर या नूरजहाँ पर निर्भर नहीं था। जो सरदार तथाकथित "गुट" के कृपापात्र नहीं थे उन्हें भी अपनी योग्यता और बारी के अनुसार तरक्की मिलती रही। इससे प्रकट होता है कि जहाँगीर की निर्भरता की बात सही नहीं है। शाहजहाँ का उत्थान नूरजहाँ के समर्थन की बजाय उसके अपने गुणों और उपलब्धियों के कारण हुआ था। शाहजहाँ की अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं जिनसे जहाँगीर बेखबर नहीं था। बहरहाल उस युग में किसी भी शासक के लिए यह संभव नहीं था कि वह किसी भी सरदार या शाहज़ादे को इतना शक्तिशाली बन जाने दे कि वह उसी की सत्ता को चुनौती देने लगे। जहाँगीर और शाहजहाँ के बीच के संघर्ष का यही बुनियादी कारण था।

शाहजहाँ का विद्रोह

विद्रोह का तात्कालिक कारण शाहजहाँ का कंदहार जाने से इनकार कर देना था। कंदहार पर ईरानियों ने आक्रमण कर दिया था और शाहजहाँ को उनसे निपटने के लिए भेजा जा रहा था। शाहजहाँ को आशंका थी कि यह लड़ाई लंबी चलेगी और कठिन होगी, तथा उसकी अनुपस्थिति के दौरान दरबार में उसके खिलाफ़ साज़िश की जाएगी। इसलिए उसने तरह-तरह की शर्तें सामने रखीं - जैसे सेना की पूरी कमान उसके हवाले करना, जबकि उस सेना में दकन की लड़ाइयों के छपे-परखे सेनापति भी शामिल थे, पंजाब पर पूरा अधिकार, अनेक महत्वपूर्ण किलों पर नियंत्रण आदि। जहाँगीर उसके इस रवैये से आग-बबूला हो उठा। उसे विश्वास हो गया कि शाहज़ादा विद्रोह पर उतारू हो गया है। सो उसने कड़े पत्र लिखे और उसे दंडित करने के लिए कदम उठाए। इससे स्थिति और भी बिगड़ गई और शाहज़ादे ने खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर दिया। उस समय शाहज़ादा मांडू में था। खज़ाने पर कब्ज़ा करने के लिए वह वहाँ से तेज़ी से आगरा की ओर बढ़ चला। शाहजहाँ को मुग़लों की दकनी सेना का पूरा समर्थन प्राप्त था और वहाँ तैनात सभी सरदार उसके साथ थे। गुजरात और मालवा ने उसके समर्थन की घोषणा कर दी थी और

उसका श्वसुर आसफ खाँ तथा दरबार के कई सरदार भी उसके पक्ष में थे। तथापि दिल्ली के निकट हुई लड़ाई में महाबत खाँ की फौज ने शाहजहाँ को हरा दिया। लेकिन शाहज़ादे की सेना की मेवाड़ी टुकड़ी ने जिस बहादुरी से लोहा लिया उसके कारण वह पूर्ण पराजय से बच गया। एक और सेना शाहजहाँ से गुजरात छीनने को भेजी गई। शाहजहाँ मुग़ल प्रदेशों में जहाँ-जहाँ भागता रहा, उसका पीछा किया जाता रहा। आखिर उसने अपने कल तक के शत्रु दकनी शासकों के यहाँ पनाह ली। लेकिन शीघ्र ही वह दक्कन पार करके उड़ीसा पहुँच गया। वहाँ के सूबेदार को सँभलने का मौका ही नहीं मिला और उसने बंगाल तथा बिहार पर कब्ज़ा कर लिया। महाबत ख़ाँ को फिर उसको सर करने का दायित्व दिया गया। उसने तेज़ी से कार्रवाई की। लाचार होकर शाहजहाँ को फिर दकन लौटना पड़ा इस बार उसने मलिक अंबर से समझौता किया जो एक बार फिर से मुगलों से लोहा ले रहा था। इसके कुछ ही दिन बाद शाहजहाँ ने जहाँगीर को क्षमायाचना और अपनी दुर्दशा का वर्णन करते हुए पत्र लिखे। जहाँगीर को लगा कि यही अपने सबसे योग्य और पराक्रमी बेटे को माफ़ करके उससे सुलह करने का समय है। सो पिता-पुत्र में समझौता हो गया। उसे अपने दो बेटों दारा और औरंगज़ेब को बंधक के तौर पर दरबार में भेजना पड़ा और बादशाह ने उसके खर्च के लिए दकन में एक इलाका उसे सौंप दिया, यह बात 1626 ई. की है।

महाबत खाँ

शाहजहाँ के विद्रोह ने मुग़ल साम्राज्य को चार वर्षों तक फसाए रखा। इसके फलस्वरूप कंदहार मुग़लों के हाथ से निकल गया और दक्कनियों को मुग़लों को सौंपे गए अपने सारे प्रदेशों पर फिर से कब्ज़ा कर लेने का मौका मिल गया। इससे मुग़ल-व्यवस्था की एक कमज़ोरी भी उजागर हुई जो यह थी कि सफल शाहज़ादा शक्ति का एक अलग केंद्र बन जाता था, खासकर तब जब कि बादशाह स्वयं सर्वोच्च सत्ता सँभालने का इच्छुक या उसके योग्य नहीं रह जाता था। शाहजहाँ हमेशा यह आरोप लगाता रहता था कि जहाँगीर के स्वास्थ्य में गिरावट आने के बाद से सारी वास्तविक सत्ता नूरजहाँ बेगम के हाथों में चली गई थी। इस आरोप को स्वीकार करना कठिन है क्योंकि स्वयं शाहजहाँ का श्वसुर आसफ़ खाँ शाही दीवान था। इसके अलावा खराब स्वास्थ्य के बावजूद जहाँगीर मानसिक रूप से सजग रहता था और उसके अनुमोदन के बिना कोई निर्णय नहीं किया जा सकता था। जहाँगीर की बीमारी से एक और भी खतरा पैदा हो गया था जो यह था कि कोई भी महत्वाकांक्षी सरदार इस परिस्थिति का लाभ उठा कर सर्वोच्च सत्ता हथिया सकता था: एक अप्रत्याशित घटना से यह वास्तविकता सामने आ गई। महाबत खाँ ने शाहजहाँ के विद्रोह को दबाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी लेकिन वह इस बात को लेकर क्षुब्ध था कि विद्रोह के समाप्त होने के बाद दरबार में कुछ लोग महाबत खाँ के पर कतरने के लिए उतावले हो रहे थे। तभी महाबत खाँ को हिसाब देने के लिए दरबार में बुलाया गया। महाबत खाँ राजपूत सैनिकों के अपने एक विश्वस्त दल के साथ पहुँचा और जब शाही शिविर काबुल जाने के लिए झेलम पार कर रहा था तभी मौका देखकर उसने बादशाह को बंदी

बना लिया। नूरजहाँ बच निकली। महाबत खाँ पर एक हमला किया गया लेकिन वह बुरी तरह नाकाम रहा। अब नूरजहाँ ने और तरीके अपनाए। बादशाह के पास रहने के लिए उसने महाबत खाँ के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। महाबत खाँ एक कुशल योद्धा भी था। लेकिन वह एक चतुर कूटनीतिज्ञ या प्रशासक नहीं था सो वह कुछ ग़लतियाँ कर बैठा। इस बीच राजपूत सैनिकों की लोकप्रियता घटती जा रही थी। इन हालात में नूरजहाँ ने छह महीने के अंदर अधिकांश सरदारों को महाबत खाँ से तोड़कर अपने पक्ष में कर लिया। अपनी कमज़ोर स्थिति देखकर महाबत खाँ ने जहाँगीर को छोड़ दिया और ख़ुद दरबार से भाग खड़ा हुआ। कुछ समय बाद वह शाहजहाँ के साथ जा मिला जो मुग़लिया तख्त के खाली होने का इंतज़ार कर रहा था।

महाबत खाँ की पराजय नूरजहाँ द्वारा प्राप्त सबसे बड़ी विजय थी। इसका बहुत कुछ श्रेय उसके धैर्ययुक्त साहस और चतुराई को था। लेकिन उसकी विजय अल्पकालिक ही साबित हुई क्योंकि इसके एक साल के अंदर ही लाहौर के निकट जहाँगीर ने दम तोड़ दिया (1627 ई.)। चतुर और धूर्त आसफ खाँ - जिसे जहाँगीर ने साम्राज्य का वकील नियुक्त कर दिया था, जो अपने दामाद शाहजहाँ को अपने पिता का उत्तराधिकार दिलाने के लिए ज़मीन तैयार कर रहा था, अब खुलकर सामने आ गया। दीवान, प्रमुख सरदारों और सेना के समर्थन से उसने नूरजहाँ को लगभग कैदी बना लिया और शाहजहाँ को, जो तब दकन में था, फौरी बुलावा भेजा। शाहजहाँ आगरा पहुँचा तो पूरे हर्षोल्लास सहित उसे गद्दी पर बैठा दिया गया। इससे पहले शाहजहाँ के आदेश पर उसके सभी प्रतिद्वंद्वियों को, जिनमें कि उसका बंदी भाई और रिश्ते का भाई भी शामिल था, मौत के घाट उतार दिया गया। यह एक ऐसी नज़ीर थी जिसके नतीजे मुग़ल राजवंश के लिए बहुत सख्त साबित हुए। वैसे तो इसका सबसे पहला दृष्टांत स्वयं दिवंगत बादशाह ने सामने रखा था और शाहजहाँ ने खुद भी उसे दोहराया था। इसका कड़वा फल उसे अपने जीवन के अंतिम दौर में चखने को मिला। जहाँ तक नूरजहाँ का संबंध है, गद्दी पर बैठने के बाद शाहजहाँ ने उसके खर्च के लिए एक निश्चित रकम तय कर दी। अठारह साल बाद अपनी मृत्यु तक नूरजहाँ निष्क्रिय जीवन व्यतीत करती रही।

शाहजहाँ का शासनकाल (1628-58 ई.) बहुमुखी प्रवृत्तियों और हलचलों का काल था। हमें शाहजहाँ की दकन नीति का लेखा-जोखा पहले ही ले चुके हैं अब हम मुग़लों की विदेश नीति पर विचार करेंगे जो शाहजहाँ के अधीन अपनी चरम परिणति को प्राप्त हुई।

मुग़लों की विदेश नीति

हम देख चुके हैं कि पंद्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तैमूरी साम्राज्य के विघटन के बाद किस प्रकार ट्रांस-ऑक्सियाना (मध्य एशिया), ईरान और तुर्की में क्रमशः उजबेक, सफावी और उस्मानिया साम्राज्य स्थापित कर लिए गए थे। उजबेक मुग़लों के स्वाभाविक शत्रु थे। उन्होंने ही बाबर तथा अन्य तैमूरी शासकों को समरकंद, खुरासान आदि पड़ोसी प्रदेशों से निकाल बाहर किया था। साथ ही उज़बेकों की टक्कर सफावियों की उदीयमान शक्ति से भी

हुई, जिनका दावा खुरासान पर था। खुरासानी पठार ईरान को मध्य एशिया से जोड़ता था और चीन तथा भारत को जाने वाले व्यापारिक मार्ग इसी मार्ग से होकर गुज़रते थे। उज़बेकों के खिलाफ़ सफ़ावियों और मुगलों का गठबंधन होना स्वाभाविक था। खास तौर से इसलिए कि कंदहार को छोड़कर और किसी प्रदेश के संबंध में उनके बीच कोई सीमा-विवाद नहीं था। उज़बेक और मुगल दोनों सुन्नी थे, जबकि ईरान के सफ़ावी शासक शिया थे और ईरान में सुन्नियों पर बहुत अत्याचार किए जा रहे थे। उज़बेकों ने इस सांप्रदायिक मतभेद से लाभ उठाने की कोशिश की, लेकिन मुगल इतने उदार थे कि संप्रदाय के नाम पर उनकी भावना उभारने की उज़बेकों की कोशिश का कोई परिणाम नहीं निकला। ईरान से मुगलों का संधि संबंध कायम रहा। जिसके कारण उज़बेक पेशावर और काबुल के बीच उत्तर-पश्चिमी सीमा पर रहने वाले अफ़गान और बलूच कबाइलियों को जब-तब मुगलों के खिलाफ़ भड़काने लगे।

उस समय पश्चिम एशिया का शायद सबसे शक्तिशाली साम्राज्य उस्मानिया तुर्कों का था। इस साम्राज्य का संस्थापक उस्मान (मृत्यु 1326 ई.) था। उसी के नाम पर इसे उस्मानिया साम्राज्य कहा जाता है। उस्मानियों ने 1529 ई. तक एशिया माइनर (तुर्की) और पूर्वी यूरोप के अलावा सीरिया, मिस्र और अरब को भी जीत लिया। काहिरा में निवास करने वाले खलीफ़ा ने, जो अब नाम-मात्र को ही खलीफ़ा रह गया था, उन्हें "रूम के सुल्तान" की उपाधि दी थी। बाद में उन्होंने बादशाह-ए-इस्लाम का भी खिताब अपना लिया।

ईरान ने शिया शक्ति के उदय से उस्मानिया साम्राज्य के पूर्वी बाजू को जो खतरा पैदा हो गया था उसका उस्मानिया सुल्तानों को अहसास था। उन्हें आशंका थी कि खुद उनके प्रदेशों में शिया संप्रदाय को प्रोत्साहन दिया जाएगा। 1512 ई. में एक मशहूर लड़ाई में तुर्की के सुल्तान ने ईरान के शाह को पराजित कर दिया। बग़दाद के नियंत्रण के लिए और साथ ही उत्तर ईरान के एरीवान के आसपास के प्रदेशों के लिए भी ईरान से उस्मानियों की टक्कर हुई। उन्होंने धीरे-धीरे अरब देश के इर्द-गिर्द के तटीय क्षेत्रों पर भी अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया और पुर्तगालियों को फ़ारस की खाड़ी और भारतीय समुद्रों से निकालने की कोशिश की।

पश्चिम में उस्मानियों की ओर से उपस्थित खतरे को देखते हुए ईरानियों ने मुगलों से दोस्ती करने में अपनी भलाई देखी, खास तौर से इसलिए कि पूर्व में भी उन्हें आक्रामक उज़बेकों का सामना करना पड़ रहा था। मुगलों ने ईरान के खिलाफ़ उस्मानियों, उज़बेकों और मुगलों के त्रिपक्षीय गठबंधन में शामिल होने से इनकार कर दिया क्योंकि इससे एशिया का शक्ति संतुलन बिगड़ सकता था और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती थी कि उन्हें उज़बेकों का सामना अकेले करना पड़ता। ईरान के साथ मित्रता करना मध्य एशिया के साथ व्यापार को बढ़ावा देने में भी सहायक हो सकता था। यदि मुगलों के पास एक शक्तिशाली नौसेना होती तो वे शायद तुर्की के साथ निकटता का संबंध स्थापित करने की कोशिश करते। तुर्की भी एक नौसैनिक शक्ति था और भूमध्य सागर क्षेत्र में यूरोपीय ताकतों के खिलाफ़ संघर्ष में जुटा हुआ था। इसके अलावा मुगल तुर्की से संबंध स्थापित

करने से इसलिए भी बिदकते थे कि वे अब्बासी खलीफ़ा के उत्तराधिकारियों के रूप में तुर्की के सुल्तानों के श्रेष्ठता के दावे को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। ये कुछ बातें थीं जिनसे मुगलों की विदेश नीति निर्धारित हुई।

अकबर और उज़बेक

1510 ई. में उज़बेक सरदार शैबानी खाँ को जब सफ़ावियों ने हरा दिया तो बाबर ने कुछ समय के लिए समरकंद पर फिर से कब्ज़ा कर लिया था। यद्यपि कुछ दिन बाद उज़बेकों के हाथों ईरानियों की करारी हार होने के बाद बाबर को समरकंद का त्याग करना पड़ा था फिर भी ईरान के शाह ने जिस तरह उसकी ओर सहायता का हाथ बढ़ाया था उससे मुगलों और सफ़ावियों के बीच पारस्परिक मित्रता स्थापित हो गई थी। बाद में हुमायूँ को भी सफ़ावी शाह तहमास्प से सहायता मिली थी। यह तब की बात है जब भारत से उखाड़े जाने के बाद हुमायूँ ने उसके दरबार में शरण ली थी।

अब्दुल्ला खाँ उज़बेक के अधीन सोलहवीं सदी के उत्तर वाले दशक में उज़बेक साम्राज्य का प्रादेशिक विस्तार बहुत तेज़ी से हुआ था। 1572-73 ई. में अब्दुल्ला खाँ उज़बेक ने बल्ख पर अधिकार कर लिया। बदख्शाँ के साथ मिलकर बल्ख मुगलों और उज़बेकों को एक-दूसरे से अलग रखने वाले प्रदेश (बफ़र) का काम करता था। 1577 ई. में अब्दुल्ला खाँ ने अकबर के पास एक दूत-मंडल भेजकर अकबर के सामने ईरान को आपस में बाँट लेने का प्रस्ताव रखा। शाह तहमास्प की मृत्यु (1576 ई.) के बाद ईरान में अराजकता और अव्यवस्था फैल गई थी। अब्दुल्ला उज़बेक ने आग्रह किया कि अकबर को "भारत से सेना लेकर ईरान पर चढ़ाई कर देनी चाहिए ताकि वे संयुक्त प्रयत्नों से इराक, खुरासान और फ़ारस को शियाओं से मुक्त करा सकें।" अकबर पर इस तरह सांप्रदायिक संकीर्णता के नाम पर की गई अपील का कोई असर नहीं हुआ। दरअसल, उज़बेकों को सही ठिकाने पर रखने के लिए शक्तिशाली ईरान का अस्तित्व आवश्यक था। साथ ही जब तक उज़बेक काबुल या भारत को प्रत्यक्ष रूप से खतरे में न डाल दे तब तक अकबर उज़बेकों से नहीं उलझना चाहता था। यह अकबर की विदेश नीति की कुंजी थी। अब्दुल्ला उज़बेक ने उस्मानिया सुल्तान से भी संपर्क करके ईरान के खिलाफ़ एक त्रिपक्षीय सुन्नी गठबंधन का प्रस्ताव रखा। अब्दुल्ला खाँ की पेशकश के जवाब में अकबर ने भी उसके पास एक दूत-मंडल भेजकर यह संदेश दिया कि कानून और धर्म के भेद को किसी के राज्य को जीतने का पर्याप्त कारण नहीं माना जा सकता। मक्का जाने वाले हाजियों की कठिनाइयों के बारे में उसने बताया कि गुजरात-विजय के साथ एक नया मार्ग खुल गया था।

मध्य एशिया के मामलों में अकबर की बढ़ती हुई रुचि का प्रमाण यह था कि उसने तैमूरी शासक मिर्ज़ा सुलेमान को, जिसे उसके पोते ने बदख्शाँ से निकाल दिया था, अपने दरबार में शरण दी। अबुल फ़ज़ल बताता है कि खैबर दर्रे को गाड़ियाँ चलाने लायक बना दिया गया और मुगलों के भय

से बल्ख के दरवाज़े आम तौर पर बंद रखे जाते थे। अपने शरणागत की ओर से अकबर बदख्शाँ पर आक्रमण न कर दे, इस संभावना के खिलाफ़ पेशबंदी के तौर पर अब्दुल्ला उज़बेक ने अपने धर्मार्थ एजेंट जलाल की मार्फ़त उत्तर-पश्चिम के कबायिलियों के बीच मुग़लों के खिलाफ असंतोष भड़काया। परिस्थिति इतनी गंभीर हो गई कि अकबर को अटक में डेरा डालना पड़ा। इसी क्षेत्र में खैबर दर्रा में हुई एक लड़ाई में अकबर को अपने सबसे प्रिय दरबारी और सेनापति राजा बीरबल को खोना पड़ा।

1585 ई. में अब्दुल्ला उज़बेक ने सहसा बदख्शाँ पर अधिकार कर लिया। मिर्ज़ा सुलेमान और उसके पौत्र दोनों ने अकबर के दरबार में शरण ली और उन्हें उपयुक्त मनसब प्रदान किए गए। 1585 ई. में ही अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम की मृत्यु हो गई। उसके बाद अकबर ने काबुल को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार मुग़ल और उज़बेक सीमाएँ एक-दूसरे की सहवर्ती हो गई थीं।

अब अब्दुल्ला उज़बेक ने अकबर के पास दूसरा दूत-मंडल भेजा जिससे अकबर अपने अस्थायी पड़ाव अटक में मिला। सीमा के इतने निकट अकबर की उपस्थिति से अब्दुल्ला उज़बेक अशांत हो उठा था। लेकिन काफ़ी जोड़-तोड़ के बाद उज़बेकों ने ईरान से खुरासान के वे अधिकांश हिस्से जीत लिए जिन पर उनकी आँख गडी हुई थी। उज़बेकों के इन प्रयत्नों के दौरान ईरान की ओर से मुग़लों के हस्तक्षेप का खतरा भी था लेकिन वास्तव में मुग़लों ने कोई दखल नहीं दिया।

इन परिस्थितियों में अकबर को समझदारी इसी में दिखाई दी कि उज़बेकों से समझौता कर लिया जाए। इसलिए अकबर का एक दूत हकीम हुमान अब्दुल्ला खाँ उज़बेक के पास एक पत्र और मौखिक संदेश के साथ भेजा गया। मालूम होता है कि दोनों में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार हिंदुकुश को उज़बेकों और मुग़लों के साम्राज्यों के बीच की सीमा मान लिया गया। इसका मतलब यह था कि बदख्शाँ और बल्ख पर, जहाँ 1585 ई. तक तैमूरियों का शासन रहा था, मुग़लों ने अपना दावा छोड़ दिया था। लेकिन इसका मतलब यह भी था, कि उज़बेकों ने काबुल और कंदहार पर अपने दावे का त्याग कर दिया था। यद्यपि दो में से किसी भी पक्ष ने औपचारिक तौर पर अपने-अपने दावों का त्याग नहीं किया था तथापि इस समझौते से इस क्षेत्र में मुग़ल साम्राज्य की एक ऐसी सीमा कायम हो गई थी जिसकी हिफ़ाज़त वह कर सकता था। 1595 ई. में कंदहार पर अधिकार करके अकबर ने अपने साम्राज्य की प्राकृतिक सीमा स्थापित कर ली। इसके अलावा, 1586 ई. से स्थिति पर नज़र रखने के लिए अकबर लाहौर में ही डेरा डाले रहा। 1598 ई. में अब्दुल्ला खाँ उज़बेक की मृत्यु के उपरांत ही वह आगरा लौटा। अब्दुल्ला खाँ की मृत्यु के बाद उज़बेक साम्राज्य परस्पर युद्धरत छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और आगे काफ़ी लंबे समय तक उज़बेकों से मुग़लों को कोई खतरा नहीं रहा।

ईरान के साथ संबंध और कंदहार का प्रश्न

सफ़ावियों और मुग़लों को एक दूसरे से जोड़ने वाला सबसे महत्वपूर्ण कारण दोनों को उज़बेक शक्ति का भय था। उज़बेकों ने मुग़लों की शिया

विरोधी भावनाओं को उभारने की पूरी कोशिश की। मुग़लों को सफ़ावी शासकों की असहिष्णुतापूर्ण नीतियाँ सख्त नापसंद थीं। दोनों के बीच झगड़े का एकमात्र मुद्दा कंदहार था जिस पर सामरिक तथा आर्थिक कारणों से और साथ ही भावनाओं और प्रतिष्ठा की दृष्टि से दोनों दावा करते थे। कंदहार तैमूरी साम्राज्य का अंग रहा था। हैरात के शासकों के रूप में बाबर के बंधु-बांधव 1507 ई. तक, जबकि उज़बेकों ने उन्हें वहाँ से उखाड़ फेंका, शासन करते रहे थे।

सामरिक दृष्टि से देखें तो कंदहार काबुल की रक्षा के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण था। कंदहार का किला उस क्षेत्र के सबसे मज़बूत किलों में गिना जाता था और उसमें जल-आपूर्ति की बहुत अच्छी व्यवस्था थी। काबुल और हेरात को जाने वाली सड़कों के मिलन-स्थल पर स्थित कंदहार से पूरे अफ़ग़ानिस्तान पर निगाह रखी जा सकती थी। सामरिक दृष्टि से वह एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था। एक आधुनिक ब्रिटिश पत्रव्यवहार में कहा गया है कि "काबुल ग़ज़नी कंदहार पट्टी सामरिक महत्व की और तर्कसंगत सीमा थी। काबुल और खैबर से परे कोई प्राकृतिक रक्षा पंक्ति नहीं थी। इसके अलावा कंदहार पर अधिकार होने से अफ़ग़ान और बलूच कबीलों पर नियंत्रण रखा जा सकता था।"

अकबर द्वारा सिंध और बलूचिस्तान के जीत लिए जाने के बाद मुग़लों के लिए कंदहार का सामरिक और आर्थिक महत्व बहुत बढ़ गया। कंदहार समृद्ध और उपजाऊ प्रांत था और भारत तथा मध्य एशिया के बीच माल और मनुष्यों की आवाजाही का केंद्र था। कंदहार के रास्ते मध्य एशिया और मुल्तान के बीच चलने वाले व्यापार और मुल्तान से आगे सिंधु नदी के ज़रिए समुद्र तक पहुँच कर समुद्री मार्ग से चलने वाले व्यापार का महत्व धीरे-धीरे बहुत बढ़ गया, क्योंकि ईरान से गुज़रने वाली सड़कें लड़ाइयों और आंतरिक अशांति के कारण उपद्रवग्रस्त रहती थीं। अकबर इस मार्ग पर व्यापार को बढ़ावा देना चाहता था। उसने अब्दुल्ला उज़बेक को बताया कि यह मक्का जाने वाले हाजियों और माल के लिए एक वैकल्पिक रास्ता था। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए देखा जा सकता है कि कंदहार जितना महत्वपूर्ण मुग़लों के लिए था उतना ईरान के लिए नहीं। ईरान के लिए कंदहार "उसकी रक्षा व्यवस्थाओं में किसी मज़बूत दुर्ग की बजाय एक बाहरी चौकी ही थी, हालाँकि यह एक महत्वपूर्ण चौकी थी"।

परंतु आरंभिक दौर में कंदहार को दोनों देशों के बीच खटास पैदा नहीं करने दिया गया। कंदहार बाबर के अधिकार में 1522 ई. में लाया था। अब उज़बेक खुरासान पर खतरा बन कर मंडरा रहे थे। इस परिस्थिति के मद्देनज़र ईरानियों ने मुग़लों की कंदहार-विजय पर कोई गंभीर आपत्ति नहीं की। लेकिन जब हुमायूँ ने शाह तहमास्प के दरबार में शरण माँगी तो शाह इस शर्त पर शरण देने को राज़ी हुआ कि कंदहार को, जिस पर उन दिनों हुमायूँ मज़बूर था, सो उसे सहमत होना पड़ा। लेकिन उसको जीतने के बाद हुमायूँ उस पर काबिज़ रहने के बहाने बताने लगा। वस्तुतः कंदहार उसके द्वारा काबुल में कामरान के खिलाफ़ की जानेवाली सैनिक कार्रवाई के अड्डे का काम आ रहा था।

हुमायूँ की मृत्यु के बाद फैली अनिश्चितता का लाभ उठाकर तहमास्प ने कंदहार पर अधिकार

कर लिया। अकबर ने उसे फिर से जीतने की कोशिश तब तक मुल्तवी रखी जब तक कि अब्दुल्ला खाँ के नेतृत्व में उज़बेक ईरान और मुग़लों के लिए खतरा नहीं बन गए। कुछ आधुनिक इतिहासकारों का यह कहना सही नहीं है कि मुग़लों की कंदहार-विजय (1595 ई.) अकबर और उज़बेकों के ईरानी साम्राज्य को बाँट लेने के समझौते का अंग थी। इसकी बजाय उसका प्रयोजन संभावित उज़बेक आक्रमण के खिलाफ़ एक सुदृढ़ रक्षा-पंक्ति तैयार करना था क्योंकि तब तक खुरासान उज़बेकों के कब्ज़े में जा चुका था और कंदहार का संबंध ईरान से कट गया था।

मुग़लों की कंदहार-विजय के बावजूद ईरान और मुग़लों के बीच का संबंध मधुर बना रहा। प्रथम शाह अब्बास (शासनकाल 1588 ई.-1629 ई.) जो सफ़ावी शाहों में शायद सबसे महान था, जहाँगीर से अच्छा संबंध कायम रखने के बहुत उत्सुक था। दोनों शासकों के बीच दूत-मंडलों और कीमती उपहारों का, जिनमें प्राचीन और दुर्लभ वस्तुएँ भी शामिल रहती थीं, आदान-प्रदान चलता रहा। शाह अब्बास ने दक्नी राज्यों के साथ भी घनिष्ठ कूटनीतिक तथा व्यापारिक संबंध कायम किए, जिस पर जहाँगीर ने कोई आपत्ति नहीं की। दो में से किसी भी पक्ष को एक-दूसरे से किसी तरह का खतरा महसूस नहीं होता था। एक दरबारी कलाकार ने एक काल्पनिक चित्र का भी अंकन किया जिसमें शाह अब्बास और जहाँगीर एक-दूसरे को गले लगा रहे है और विश्व को दर्शाने वाला (भूमण्डल) एक गोला उनके पैरों के नीचे है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी दोनों देश, एक-दूसरे के और नज़दीक आए। इस कार्य में नूरजहाँ ने भरपूर योगदान किया। लेकिन यह मित्रता जहाँगीर की अपेक्षा शाह अब्बास के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध हुई, क्योंकि इस मित्रता के कारण जहाँगीर ने उज़बेक सरदारों से अच्छा संबंध कायम करने की कोई कोशिश नहीं की। अपने "भाई" शाह अब्बास से मित्रता के कारण वह काफ़ी सुरक्षित महसूस कर रहा था। 1620 ई. में शाह अब्बास ने कंदहार उसके हवाले कर देने के लिए जहाँगीर के पास एक नम्रतापूर्ण अनुरोध-पत्र भेजा और साथ ही उस पर आक्रमण करने की तैयारी भी कर ली। जहाँगीर इस अनुरोध से सकते में आ गया, क्योंकि वह कूटनीतिक रूप से अलग-थलग पड़ गया था और उसकी सैनिक तैयारी भी नहीं थी। जल्दी में कंदहार की रक्षा की तैयारियाँ की गई, लेकिन उधर कूच करने के लिए शाहजहाँ ने असंभव शर्तें सामने रख दीं। फलतः कंदहार सन् 1622 में ईरानियों के हाथों में चला गया। यद्यपि शाह अब्बास ने मुग़लों के हाथों से कंदहार निकल जाने के दंश को मिटाने की कोशिश की और उसने जहाँगीर के पास कीमती उपहारों के साथ दूत-मंडल भेजकर कंदहार पर अधिकार करने की अपनी मजबूरियों का इज़हार किया जिन्हें जहाँगीर ने औपचारिक तौर पर स्वीकार भी कर लिया, तथापि मुग़लों और ईरानियों के संबंध की मधुरता तिरोहित हो चुकी

थी। शाह अब्बास की मृत्यु (1629 ई.) के बाद ईरान में गड़बड़ी पैदा हो गई। इस स्थिति का लाभ उठाकर शाहजहाँ ने, जो अब दक्न के मामलों से फुर्सत पा चुका था, कंदहार के सूबेदार अली मर्दान खाँ को मना लिया (1638 ई.)।

शाहजहाँ का बल्ख अभियान

कंदहार विजय लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधनमात्र थी। शाहजहाँ को ज़्यादा चिंता काबुल पर बार-बार होने वाले उज़बेक हमलों की और बलूच तथा अफ़गान कबीलों के साथ उनकी साजिश की थी। उन्हीं दिनों बुखारा और बल्ख - दोनों नज़र मुहम्मद के अधिकार में आ गए थे। नज़र मुहम्मद और उसका बेटा अब्दुल अज़ीज़ - दोनों काफ़ी महत्वाकांक्षी थे और उन्होंने अफ़गान कबीलों की सहायता से काबुल और ग़ज़नी पर अधिकार करने के लिए कई हमले किए थे। लेकिन शीघ्र ही अब्दुल अज़ीज़ अपने पिता के खिलाफ़ विद्रोह कर बैठा और नज़र मुहम्मद के अधिकार में केवल बल्ख ही रह गया। उसने शाहजहाँ से सहायता की याचना की जिसे बादशाह ने बहुत तत्परता से स्वीकार कर लिया। वह लाहौर से काबुल पहुँच गया और उसने नज़र मुहम्मद की मदद के लिए शाहज़ादा मुराद के अधीन एक विशाल सेना तैयार कर दी। इस सेना में 50,000 घुड़सवार और 10,000 पैदल सैनिक थे। पैदल सैनिकों में तोड़ेबाज़ और तोपची तथा राजपूतों की एक टुकड़ी भी शामिल थी। 1646 ई. के मध्य में सेना ने काबुल से कूच किया। शाहजहाँ ने बहुत सावधानी से मुराद को हिदायत कर दी थी कि वह नज़र मुहम्मद को पूरी इज़्ज़त बख्शे और अगर वह विनम्रता से पेश आए तो बल्ख उसे वापस लौटा दे। उसने मुराद को यह निर्देश भी दिया था कि अगर नज़र मुहम्मद समरकंद और बुखारा पर फिर से अधिकार करना चाहे तो उसमें उसकी सहायता करने में कुछ भी कोर कसर न उठा रखे। ज़ाहिर था कि शाहजहाँ बुखारा में मुग़लों के ऐसे मित्र का शासन देखना चाहता था जो सहायता और समर्थन के लिए उसके मुखापेक्षी हों। लेकिन मुराद के अविवेक ने उसकी सारी योजना पर पानी फेर दिया। उसने नज़र मुहम्मद के निर्देश के लिए इंतज़ार किए बिना बल्ख पर आक्रमण कर दिया। अपने लोगों को बल्ख के किले में, जहाँ नज़र मुहम्मद निवास कर रहा था, घुस जाने का आदेश दिया और बहुत ही बेअदब तरीके से नज़र मुहम्मद से खुद आकर मिलने को कहा। नज़र मुहम्मद को समझ में नहीं आया कि सचमुच मुराद के इरादे क्या थे। सो वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ। मुग़लों को बलख को अपने कब्ज़े में लेना पड़ा और असंतुष्ट और क्षुब्ध प्रजा के मुकाबले उस कब्ज़े को बनाए रखना पड़ा। नज़र मुहम्मद का कोई विकल्प भी आसानी से नहीं मिल रहा था। नज़र मुहम्मद के बेटे अब्दुल अज़ीज़ ने नावरा उन्नहर ट्रांस आक्सियाना में मुग़लों के खिलाफ़ उज़बेक कबीलों को भड़काया और आमू दरिया के पार

1,20,000 लोगों की विशाल फ़ौज खड़ी कर ली। इस बीच घर लौटने के लिए व्याकुल शाहज़ादे मुराद के स्थान पर उसके बड़े भाई औरंगजेब को तैनात कर दिया गया था। मुग़लों ने आमू दरिया की रक्षा के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया क्योंकि उसे आसानी से पार किया जा सकता था। इसकी बजाय उन्होंने सामरिक महत्व के ठिकानों पर छोटी-छोटी टुकड़ियाँ तैनात कर दीं और मुख्य सेना को साथ रखा ताकि जहाँ कहीं कोई खतरा उपस्थित हो जाए वहाँ वह अविलंब पहुँच सके। मुग़लों की मोर्चाबंदी अच्छी थी। अब्दुल अजीज़ ने आमू दरिया को तो पार कर लिया लेकिन इस पार आते ही उसने पाया कि उसके सामने तो विशाल मुग़ल वाहिनी खड़ी थी। अलग-अलग मोर्चों पर होने वाली लड़ाई में बल्ख के प्रवेश द्वारों के बाहर ही मुग़लों ने उज़बेकों के पैर बिल्कुल उखाड़ दिए (1647 ई.)।

बल्ख में मुग़लों की विजय से उज़बेकों के साथ समझौता वार्ता का रास्ता खुल गया। अब्दुल अजीज़ के उज़बेक समर्थक हवा में काफूर हो गए और अब उसने मुग़लों की मुरव्वत हासिल करने की कोशिश शुरू कर दी थी। नजर मुहम्मद ने भी, जिसने बल्ख से भाग कर ईरान में पनाह ली थी, मुग़लों से निवेदन किया कि उसका साम्राज्य उसे लौटा दिया जाए। काफी सोच-विचार के बाद शाहजहाँ ने नजर मोहम्मद पर मेहरबानी करने का फैसला किया। लेकिन उससे कहा गया कि पहले वह शाहज़ादा औरंगजेब से माफ़ी माँगे और उसके सामने सिर झुकाए। यह मुग़लों की भूल थी क्योंकि स्वाभिमानी उज़बेक शासक से खुद को इस हद तक गिरा लेने की आशा करना बेकार था, खासकर इसलिए कि उसे मालूम था कि मुग़लों के लिए बल्ख पर अधिक दिनों तक अपना अधिकार कायम रखना असंभव था। नज़र मुहम्मद के व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होने की निरर्थक आशा में बैठे रहने के बाद आखिर अक्तूबर 1647 ई. में मुग़लों ने बल्ख को छोड़ दिया क्योंकि सर्दी का मौसम तेज़ी से आ रहा था और बल्ख तक मुग़लों का रसद पानी नहीं पहुँच पा रहा था। चारों ओर से सिर पर मंडराते उज़बेकों के वैरी गिरोहों के कारण यह वापसी एक तरह की हार में बदल गई। मुग़लों को बहुत मुसीबतें झेलनी पड़ीं। लेकिन औरंगजेब की दृढ़ता ने उन्हें विनाश से बचा लिया।

शाहजहाँ के बल्ख अभियान को लेकर आधुनिक इतिहासकारों के बीच काफ़ी विवाद रहा है। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो चुका है कि शाहजहाँ मुग़ल साम्राज्य की सीमा को तथाकथित "वैज्ञानिक पंक्ति" यानी आमू दरिया तक ले जाने की कोशिश नहीं कर रहा था। आमू दरिया, जैसा कि हम देख चुके हैं, कोई रक्षा-पंक्ति नहीं हो सकती थी। ऐसी बात भी नहीं है कि शाहजहाँ मुग़लों के "वतन" समरकंद और फरग़ाना को जीतने की इच्छा से प्रेरित था, हालाँकि मुग़ल शहंशाह इसकी बात अक्सर किया करते थे। मालूम होता है कि शाहजहाँ का उद्देश्य यह था कि बल्ख और बदख्शाँ में कोई मित्र शासक हो, क्योंकि ये दोनों प्रदेश काबुल की सीमा से लगे हुए थे और

1585 ई. तक तैमूरियों ने इन पर शासन किया था। उसे भरोसा था कि अगर इन प्रदेशों में अनुकूल शासक होगा तो उससे गज़नी के इर्द-गिर्द और खैबर दर्रे में निवास करने वाले अफ़ग़ान कबीलों के बाग़ी तेवरों को भी नियंत्रण में रखने में सहायता मिलेगी। सैनिक दृष्टि से यह अभियान सफल रहा। मुग़लों ने बल्ख को जीत लिया और उन्हें उखाड़ने के उज़बेक प्रयत्नों को विफल कर दिया। इस क्षेत्र में भारतीय सेना की यह प्रथम विजय थी और इस पर शाहजहाँ का खुशियाँ मनाना वाजिब था। लेकिन बल्ख में लंबे अर्से तक अपने प्रभाव को कायम रखना मुग़लों के बूते से बाहर की बात थी। ईरानियों के विरोध और प्रतिकूल आबादी के मुकाबले राजनीतिक दृष्टि से भी वैसा करना कठिन था। कुल मिलाकर देखें तो बल्ख अभियान से कुछ समय के लिए मुग़लों की सैनिक प्रतिष्ठा तो बढ़ी, परंतु उससे उन्हें कोई राजनीतिक लाभ नहीं हुआ। यदि शाहजहाँ ने इतनी मेहनत से अकबर द्वारा खड़ी की गई काबुल-गजनी-कंदहार रक्षा पंक्ति को ही कायम रखने पर आग्रह रखा होता तो मनुष्यों तथा अन्य संसाधनों की अनावश्यक क्षति से बचा जा सकता था। बहरहाल नज़र मुहम्मद जब तक जीवित रहा, मुग़लों के साथ दोस्ती निभाता रहा और दोनों के बीच दूत-मंडलों का आदान-प्रदान बराबर चलता रहा।

मुग़ल-ईरानी संबंधों का अंतिम चरण

बल्ख में जीत हासिल करके भी मुग़लों के हाथ लगभग कुछ नहीं आया था और उन्हें वहाँ मजबूरी में ही हटना पड़ा था। इससे काबुल क्षेत्र में उज़बेकों की शत्रुता और खैबर-गजनी क्षेत्र में अफ़ग़ान कबीलों के उपद्रव फिर से आरंभ हो गए। यह सब देखकर ईरानियों का साहस बढ़ा और उन्होंने कंदहार पर आक्रमण करके उस फिर से कब्ज़ा कर लिया (1649 ई.)। इससे शाहजहाँ के अहंकार को बहुत ठेस पहुँची और उसने स्वयं मुग़ल शाहज़ादों के अधीन एक-के-बाद-एक तीन सेना-टुकड़ियाँ कंदहार को फिर से जीतने के लिए भेजीं। पहला आक्रमण 50,000 की सेना के साथ बल्ख अभियान के नायक औरंगज़ेब ने किया। यद्यपि मुग़लों ने किले से बाहर ईरानियों को हरा दिया तथापि ईरानियों के संकल्प युक्त प्रतिरोध के मुकाबले वे उस पर कब्ज़ा नहीं कर पाए।

तीन साल बाद औरंगज़ेब के ही नेतृत्व में किया गया दूसरा आक्रमण भी विफल रहा। सबसे जबर्दस्त आक्रमण अगले साल (1653 ई.) दारा के नेतृत्व में किया गया। दारा शाहजहाँ का सबसे प्यारा पुत्र था। दारा को उम्मीद थी कि अपनी विशाल सेना के बल पर वह किले के अंदर के लोगों को भूख-प्यास से तड़पा-तड़पा कर आत्म-समर्पण करने को मजबूर कर देगा, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। दो सबसे बड़ी तोपों को बड़ी कठिनाई से खींच कर कंदहार लाया गया था। लेकिन वे भी किले को भेद नहीं पाईं।

कुछ इतिहासकारों का कहना है कि कंदहार में मुग़लों की विफलता मुग़ल तोपखाने की कमज़ोरी की द्योतक थी। लेकिन यह बात सही नहीं मालूम होती। मुग़लों की विफलता से वस्तुतः जो बात सूचित होती है वह यह कि वह किला इतना मज़बूत था कि यदि उसकी कमान किसी सुयोग्य सेनापति के हाथों में भी होती तो भी उसे कोई भेद नहीं सकता था। इसके अलावा मुग़लों की नाकामयाबी

से मध्यकालीन तोपखाने की नाकामी भी साबित होती है। (दकन में भी मुगलों का अनुभव ऐसा ही रहा था)। लेकिन हम यह कह सकते हैं कि कंदहार से शाहजहाँ का लगाव यथार्थ पर आधारित न होकर भावनात्मक था। उज़बेकों और सफावियों की बढ़ती हुई कमज़ोरी के कारण अब कंदहार का सामरिक महत्व वैसा नहीं रह गया था जैसा पहले था। मुग़ल प्रतिष्ठा को अगर बट्टा लगा था तो कंदहार खोने से नहीं बल्कि उनकी सैनिक कार्रवाइयों की बार-बार की विफलता से लगा था। लेकिन प्रतिष्ठा की इस हानि को भी बढ़ा-चढ़ाकर नहीं आँकना चाहिए, क्योंकि मुग़ल साम्राज्य आगे औरंगज़ेब के शासनकाल तक अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा के शिखर पर स्थित रहा। यहाँ तक कि अभिमानी उस्मानिया सुल्तान ने भी 1680 ई. में औरंगजेब का समर्थन प्राप्त करने के लिए उसके पास एक दूत-मंडल भेजा।

औरंगज़ेब ने कंदहार को लेकर चलने वाले निरर्थक संघर्ष को आगे जारी न रखने का फैसला किया और चुपचाप ईरान के साथ कूटनीतिक संबंध फिर से आरंभ कर दिया। लेकिन 1668 ई. में ईरान के शाह द्वितीय अब्बास ने मुग़ल दूत का अपमान किया, औरंगज़ेब के खिलाफ अपमानजनक बातें कहीं, यहाँ तक कि उसके साम्राज्य पर आक्रमण करने की धमकी भी दी। द्वितीय अब्बास के इस व्यवहार के कारण स्पष्ट नहीं हैं। इसके बाद पंजाब और काबुल में मुगलों की गतिविधियाँ काफी तेज़ हो गईं। लेकिन कुछ खास घटित हो पाता उसके पहले ही द्वितीय शाह अब्बास की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी बहुत मामूली आदमी थे और इसलिए फिलहाल ईरान की ओर से भारतीय सीमा को कोई खतरा नहीं रह गया था। यह खतरा तब से पचास साल से अधिक समय बाद नादिरशाह के ईरान का शाह बनने पर फिर से उपस्थित होने वाला था।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि मुग़ल कुल मिलाकर उत्तर-पश्चिम में एक वैज्ञानिक सीमा कायम रखने में कामयाब रहे। इसका आधार एक ओर हिंदुकुश था और दूसरी ओर काबुल-गज़नी पंक्ति थी जिससे परे कंदहार का किला पड़ता था। इस प्रकार उनकी बुनियादी विदेश नीति का आधार भारत की सुरक्षा थी। इस सीमा रेखा की सुरक्षा को और भी पुख्ता किया गया कूटनीतिक साधनों से। ईरान के साथ मित्रता उस कूटनीति का मूलाधार थी, यद्यपि कंदहार को लेकर दोनों के बीच अस्थायी तौर पर बिगाड़ भी पैदा हुआ। पुराने मुग़ल मूल स्थानों या वतनों पर फिर से अधिकार करने की बार-बार जो घोषणा की जाती थी वह एक कूटनीतिक चाल थी, क्योंकि उस घोषणा पर अमल करने का कभी कोई गंभीर प्रयास ही नहीं किया गया। मुगलों द्वारा अपनाए गए ये सैनिक तथा कूटनीतिक उपाय भारत को विदेशी आक्रमणों से लंबे समय तक सुरक्षित रखने में काफी सफल हुए।

मुगलों की विदेश-नीति की एक और विशेषता यह थी कि वे उस समय के प्रमुख एशियाई देशों के साथ समानता के संबंधों पर आग्रह रखते थे। इस्लाम के पैगंबर के साथ अपनी रिश्तेदारी के आधार पर अपने लिए विशेष स्थिति का दावा करने वाले सफावी शाह और बादशाह-ए-इस्लाम का खिताब अपनाने वाले और बगदाद के खलीफा के उत्तराधिकारी होने का दावा करने वाले

उस्मानिया सुल्तान भी इसके अपवाद नहीं थे।

तीसरे, मुगलों ने अपनी विदेश नीति का इस्तेमाल भारत के व्यापारिक हितों के साधने के लिए किया। काबुल और कंदहार मध्य एशिया के साथ भारत के व्यापार के दो द्वार थे। मुग़ल साम्राज्य के लिए इस व्यापार के आर्थिक महत्व का पूर्ण मूल्यांकन करना अभी शेष है।

प्रशासन का विकास : मनसबदारी व्यवस्था और मुग़ल सेना

अकबर द्वारा स्थापित प्रशासन तंत्र और राजस्व व्यवस्था को जहाँगीर और शाहजहाँ ने मामूली फेर-बदल के साथ जारी रखा। परंतु मनसबदारी व्यवस्था की कार्य-पद्धति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए।

अकबर के अधीन अपनी सैनिक टुकड़ी के खर्च के लिए मनसबदार को औसतन 240 रुपए प्रतिवर्ष प्रति सवार दिए जाते थे। बाद में जहाँगीर के शासनकाल में उसे घटाकर 200 रुपए कर दिया गया। अलग-अलग सवारों को उनकी राष्ट्रीयता और घोड़े के स्तर के अनुसार अदायगी की जाती थी। जैसे मुग़ल सवार को भारतीय मुसलमान या राजपूत सवार से ज़्यादा पैसा दिया जाता था। मनसबदार को कुल वेतन में से 5 प्रतिशत इस उद्देश्य से अपने पास रखने दिया जाता था कि अगर अचानक कोई ज़रूरत आ पड़े तो उस पर वह उसे खर्च करे। मुग़ल मिश्रित सैनिक टुकड़ियों के पक्ष में थे। हर टुकड़ी में ईरानी और तूरानी, मुग़ल, भारतीय अफगान और मुसलमान बराबर-बराबर संख्या में रखने की व्यवस्था थी। इसका उद्देश्य यह था कि अलग-अलग कबीलों या नस्लों के लोगों को दूसरों से कटे रहने और आपस में एकजुट होने का मौका न मिल सके। लेकिन खास-खास प्रसंगों में मुग़ल या राजपूत सैनिकों की टुकड़ी रखने की छूट भी दी गई।

इस काल में कई और परिवर्तन भी किए गए। इस दौर में वेतन को कम करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। जैसा कि हमने ऊपर देखा, सवार को दिए जाने वाले वेतन में जहाँगीर ने कमी कर दी। जहाँगीर ने एक और भी प्रणाली आरंभ की जिसके अनुसार कुछ खास-खास सरदारों को जात दर्जे में कोई वृद्धि किए बिना अधिक सवार रखने की इजाज़त दी जा सकती थी। इस प्रणाली को 'दु-अस्पाहसीह-अस्पाह' प्रणाली (जिसका शाब्दिक अर्थ था-दो या तीन घोड़ों वाला सवार) कहते थे। व्यवहारतः इसका मतलब यह था कि इस दर्जे के मनसबदार को उसके सवार दर्जे के अनुसार निर्धारित संख्या से दुगनी संख्या में सवार रखने पड़ते थे और उसे उसी हिसाब से वेतन भी दिया जाता था। उदाहरण के लिए जिस मनसबदार का 3000 का जात दर्जा और 3000 सवारों का 'दु-अस्पाहसीह -अस्पाह' दर्जा प्राप्त था उसे 6000 सवार रखने पड़ते थे। आम तौर पर किसी भी मनसबदार को उसे जात दर्जे से ऊँचा सवार दर्जा नहीं दिया जाता था।

शाहजहाँ के शासनकाल में एक और भी परिवर्तन देखने को मिलता है जिसका उद्देश्य किसी सरदार द्वारा रखे जाने वाले सवारों की अपेक्षित संख्या में भारी कमी कर देना था। इस प्रकार सरदार से अपने सवार दर्जे के सिर्फ एक तिहाई सवार और कुछ मामलों में तो सिर्फ एक चौथाई सवार ही रखने की अपेक्षा की जाती थी।

उदाहरण के लिए जिस सरदार को 3000 का जात और 3000 का सवार दर्ज़ा प्राप्त होता था वह 1000 से ज्यादा सवार नहीं रख सकता था। लेकिन उसका दर्ज़ा 3000 सवार 'दु-अस्पा-सिह-अस्पा' का हो तो वह उससे दुगना अर्थात् 2000 सवार रख सकता था।

यद्यपि मनसबदारों के वेतन रुपयों में निर्दिष्ट होते थे, लेकिन उन्हें आम तौर पर नकद भुगतान नहीं किया जाता था, बल्कि इसके एवज में उन्हें जागीरें दी जाती थीं। मनसबदार पसंद भी जागीरें ही करते थे क्योंकि नकद भुगतान में विलंब हो सकता था और उसे पाने में काफी परेशानी उठानी पड़ सकती थी। इसके अलावा जमीन पर नियंत्रण रखना सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक था। सोच-समझकर तैयार किए गए दर्ज़ों के एक सोपान की व्यवस्था करके तथा कार्यों और दायित्वों के संबंध में पूरी बारीकी के साथ नियम बनाकर मुगलों ने सरदारों के वर्ग को नौकरशाही का रूप दे दिया। लेकिन वे भूमि से उनके सामंती लगाव को नहीं मिटा सके। जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह मुगल सरदारों के लिए एक बहुत बड़ी दुविधा की स्थिति साबित हुई।

जागीरों के आवंटन के लिए राजस्व विभाग को एक बही रखनी पड़ती थी जिसमें विभिन्न क्षेत्रों की कूती गई आमदनी (जमा) दर्ज होती थी। लेकिन लेखा रुपयों में नहीं बल्कि दामों (कम मूल्य का एक सिक्का) में दिखाया जाता था। इस दस्तावेज को 'जमा-दामी' आमदनी कहा जाता था।

मनसबदारों की बढ़ती संख्या और कई दूसरे कारणों से राज्य के वित्तीय संसाधनों पर बहुत दबाव पड़ा, इसलिए समस्या के समाधान के लिए उपर्युक्त परिवर्तन भी पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए। अगर सभी के वेतनों में भारी कटौती की जाती तो उससे सरदारों में असंतोष फैलता जो शासकों को रास नहीं आता। इसलिए एक नई युक्ति अपनाकर सरदारों द्वारा अपने सवार दर्जे के अनुसार रखे जाने वाले सवारों और घोड़ों की संख्या में और भी कमी कर दी गई। इस युक्ति के अनुसार मनसबदारों के वेतन सालाना की बजाए माहवारी पैमाने पर तय कर दिए गए - जैसे दसमासा, आठमासा, छहमासा, पाँचमासा पैमाने पर, और उसी के अनुसार उनके लिए निर्धारित सवारों की संख्या में भी कमी कर दी गई। उदाहरण के लिए जिस मनसबदार को तीन हजारी जात दर्ज़ा और तीन हजारी सवार दर्ज़ा प्राप्त था और जो उपर्युक्त एक तिहाई के नियम के अनुसार 1000 सवार रखता था उसे अकबर द्वारा निर्धारित नियम के अनुसार आम तौर पर 2200 घोड़े रखने पड़ते थे। लेकिन अगर उसे दसमासा वर्ग में रख दिया जाता तो उसे केवल 1800 घोड़े रखने पड़ते और पाँचमासा वर्ग में डाल दिया जाता तो मात्र 1000 घोड़े रखने पड़ते। अब पाँच महीनों से कम या दस महीनों से अधिक का भत्ता शायद ही किसी को दिया जाता हो

माहवारी आधार पर जागीरों की आमदनी की गिरावट से कोई संबंध नहीं था, क्योंकि माहवारी पैमाना जागीरदार मनसबदारों पर ही नहीं बल्कि नकद वेतन पाने वालों पर भी लागू किया गया। शाहजहाँ के शासनकाल में खेती की जमीन के क्षेत्रफल का विस्तार हुआ। नकदी फसलों के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। इससे 'जमा-दामी' या जागीर की आमदनी में भी बढ़ोतरी हुई। लेकिन इस बढ़ोतरी के साथ ही इस काल में कीमतों में भी

तेजी आई। उल्लेखनीय है कि मुगलों की सेवा में भर्ती किए गए अधिकांश मराठों को पाँचमासा पैमाने या उससे भी कम महीनों के पैमाने पर मनसब दिए गए। इस तरह श्रेणी विन्यास में तो उन्हें ऊँचा दर्ज़ा दिया गया, लेकिन उनके द्वारा रखे जाने वाले घोड़ों और सवारों की वास्तविक संख्या उनके दर्जे द्वारा निर्दिष्ट संख्या से बहुत कम होती थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, घुड़सवार सेना की कार्य-कुशलता के लिए थके या घायल घोड़े के एवज में इस्तेमाल किए जाने वाले घोड़ों की उपलब्धता बहुत आवश्यक थी। इसलिए शाहजहाँ के शासनकाल में कुल मिलाकर मुगल अश्वारोही सेना की कुशलता में कुछ कमी ही आई होगी।

मुगलों की मनसबदारी प्रणाली काफी जटिल थी। उसका कुशलता से काम करना कई बातों पर निर्भर था। इनमें दाग प्रणाली जागीरदारी प्रथा का सही अमल भी शामिल था। दाग प्रणाली पर ठीक से अमल न होने पर राज्य ठगा जाता। यदि 'जमा-दामी' को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया जाता और जागीरदारों को वाजिब वेतन नहीं मिल पाता तो उनमें असंतोष पैदा होता या वे निर्धारित संख्या में सवार और घोड़े नहीं रखते। कुल मिलाकर देखें तो शाहजहाँ के अधीन मनसबदारी व्यवस्था सुचारु रूप से ही चलती रही। इसका कारण यह था कि उसने प्रशासन की ओर बहुत सावधानी से ध्यान दिया और अधिकारियों के रूप में बहुत सोच-समझ कर सुयोग्य व्यक्तियों का ही चयन किया। उसके सभी वजीर बहुत ही कुशल और समझदार थे। सरकारी पदों के लिए सावधानीपूर्वक सही व्यक्तियों का चयन, कड़ा अनुशासन और तरक्की तथा इनाम की एक निश्चित प्रणाली - इन तमाम बातों ने मुगल सरदारों को वफादार और कुल मिलाकर बहुत भरोसेमंद वर्ग का रूप दिया जिसने अपने प्रशासनिक दायित्वों और कर्तव्यों का उचित निर्वाह किया एवं साम्राज्य की रक्षा और इसका विस्तार किया।

मुगल सेना

जैसा कि ऊपर कहा गया है, घुड़सवार मुगल सेना की प्रमुख वाहिनी थे और मनसबदार अधिक से अधिक घुड़सवार जुटाते थे। मनसबदारों के अलावा खुद मुगल शाहंशाह भी फुटकर घुड़सवार रखते थे जिन्हें अहदी कहा जाता था। अहदियों को भद्र घुड़सवार कहा गया है और उनके वेतन दूसरे घुड़सवारों से काफी ज्यादा होते थे। वे बहुत ही विश्वस्त सैन्य-दल के सदस्य होते थे। उनकी भरती स्वयं शाहंशाह किया करते थे और उनकी हाजिरी लेने के लिए अलग अधिकारी होते थे। अहदी पाँच-पाँच घोड़े भी रखते थे, लेकिन कुछ ऐसे अहदी भी थे जिनमें से दो एक ही घोड़े में हिस्सेदारी करते थे। अहदियों के कर्तव्य बहुमुखी होते थे। शाही कार्यालयों के अधिकतर मुंशी (क्लर्क), दरबार के चित्रकार और शाही कारखानों के फोरमैन इसी सैन्य-दल से चुने जाते थे। बहुत-से अहदियों को सहायकों (एडजुटेंटों) और शाही फरमानों के वाहकों के पदों पर भी नियुक्त किया जाता था। शाहजहाँ के शासनकाल में उनकी संख्या 7000 थी। उन्हें अक्सर लड़ाइयों में भेजा जाता था। वहाँ उन्हें सेना के अलग-अलग हिस्सों में वितरित कर दिया जाता था। बहुत-से अहदी कुशल बंदूकचियों (बंदूकचीओं) और धनुर्धरों (तीरंदाजों) के तौर पर काम करते थे।

अहदियों के अलावा शहंशाह एक शाही अंगरक्षकों (वालाशाही) का एक और दल राजमहल के सशस्त्र पहरेदार भी रखते थे। वे लोग घुड़सवार होते थे, लेकिन नगर-दुर्ग और राजमहल में पैदल काम करते थे।

पैदल सैनिकों (पियादगान) की संख्या काफी बड़ी थी, लेकिन वे कई हिस्सों में बँटे हुए थे उनमें से बहुत-से लोग बंदूकची थे और तीन से सात रुपए तक का मासिक वेतन पाते थे। यही लोग असली पैदल सेना थे। लेकिन पैदल सैनिकों में भार वाहक, नौकर-चाकर, हरकारे, तलवारबाज़ पहलवान और गुलाम भी शामिल रहते थे। गुलामों की संख्या उतनी नहीं थी जितनी कि सल्तनत काल में थी। उन्हें खाना-पीना, कपड़ा-लत्ता, बादशाह या शाही परिवार के लोगों से मिलता था। कभी-कभी गुलाम अहदी का पद भी हासिल कर लेते थे, लेकिन सामान्यतः पियादगानों का दर्जा निम्न होता था।

मुगल शहंशाहों के पास लड़ाई में काम आने वाले हाथियों का एक विशाल हाथीखाना भी होता था और साथ ही एक सुसंगठित तोपखाना भी। तोपखाने के दो हिस्से होते थे। एक तो था - भारी तोपखाना। इस तोपखाने की तोपों का इस्तेमाल किलों की रक्षा करने और शत्रु के किलों को भेदने के लिए किया जाता था। ये तोपें बहुत भारी-भरकम होती थीं जिन्हें इधर-उधर ले जाना मुश्किल होता था। दूसरा था - हल्का तोपखाना। इस तोपखाने को आसानी से कहीं भी ले जाया जा सकता था। जब भी शहंशाह चलता था, यह तोपखाना उसके साथ चलता था। मुगलों को अपने तोपखाने की कार्य-कुशलता में सुधार करने की बहुत फ़िक्र रहती थी। आरंभ में बहुत-से उस्मानियों और पुर्तगालियों को तोपखाना विभाग में रखा गया। औरंगज़ेब के शासनकाल तक मुगल तोपखाने में काफ़ी सुधार हो चुका था और अब तोपखाना विभाग में विदेशियों को मुश्किल से ही नौकरी मिलती थी।

बड़ी तोपें कभी-कभी आकार में ज़रूरत से ज़्यादा विशाल होती थीं, लेकिन जैसा कि एक आधुनिक लेखक का कहना है - "ये दानवाकार तोपें शत्रु को जितनी हानि पहुँचाती थीं उससे ज़्यादा आवाज़ करती थीं। उन्हें एक दिन में कई बार नहीं चलाया जा सकता था। उनके फट जाने और तोपचियों के परखचे उड़ा देने का खतरा बराबर बना रहता था"। लेकिन फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने, जो कि शाहजहाँ के साथ लाहौर और कश्मीर गया था, हल्के तोपखाने को बहुत प्रभावकारी पाया। वह कहता है - "उसमें पचास मैदानी तोपें शामिल थीं। सबकी सब पीतल की बनी हुई थीं। हर तोप एक सुगढ़ और भली भाँति रंगी-पुती गाड़ी पर रखी होती थी जिसे दो बहुत अच्छे घोड़े खींचते थे और एक तीसरा घोड़ा वक्त-ज़रूरत काम आने के लिए साथ रखा जाता था"। तोपें हाथियों और ऊँटों पर ढोई जाती थीं।

मुगल सेना की संख्या का ठीक अनुमान लगाना कठिन है। शाहजहाँ के अधीन उसमें कोई 2,00,000 घुड़सवार थे, जिनमें किलों में और फौजदारों के साथ काम करने वाले घुड़सवार शामिल नहीं थे। औरंगज़ेब के अधीन उसकी संख्या 2,40,000 पर पहुँच गई। शाहजहाँ के अधीन पैदल सैनिकों की संख्या 40,000 होने का अनुमान है, जिनमें गैर-लड़ाका लोग शामिल नहीं थे।

औरंगज़ेब के अधीन भी उनकी संख्या शायद इतनी ही रही।

उस समय के पश्चिम और मध्य एशिया के पड़ोसी राज्यों तथा यूरोपीय राज्यों की फौजों की तुलना में मुगल फौज कितनी कार्यकुशल थी - इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। यद्यपि बर्नियर जैसे कई यूरोपीय यात्रियों ने मुगल सेना की कार्यकुशलता के बारे में प्रतिकूल टिप्पणियाँ की हैं, लेकिन बर्नियर के विवरण का ध्यान से विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि मुगल सेना के बारे में उसने जो बातें कहीं उनका संबंध मुगलों की पैदल सेना से था, जिसमें न कोई अनुशासन था और न जिसे ठीक कवायद का अभ्यास था। वह असंगठित थी और उसे सही नेतृत्व प्राप्त नहीं था। यूरोप में पैदल सेना का विकास दूसरे तरीके से हुआ था। 'फ्लिंट-गन' नाम से प्रसिद्ध एक खास किस्म की बंदूक के विकास के साथ सत्रहवीं सदी में पैदल सेना यूरोप में एक दुर्धर्ष शक्ति बन गई थी और वह घुड़सवार सेना को भी बखूबी मात दे सकती थी। उसका स्वाद भारत को भारी कीमत चुका कर अठारहवीं सदी में चखने को मिला। ईरानियों के साथ बराबरी से टक्कर लेने वाले उज़बेकों के खिलाफ़ बल्ख की लड़ाई में मुगलों ने जो कामयाबी हासिल की उससे मालूम होता है कि मुगल सेना मध्य एशियाई और ईरानी सेनाओं से उन्नीस नहीं पड़ती थी। उसकी असली कमज़ोरी नौसेना के क्षेत्र में थी। यद्यपि तोपखाने के मामले में भी आरंभ में वह कुछ कमज़ोर थी, तथापि औरंगज़ेब के शासनकाल में इस क्षेत्र में उसने एशियाई शक्तियों की बराबरी हासिल कर ली थी, हालाँकि यूरोप की समुद्री ताकतों से वह पीछे ही थी। लेकिन आमतौर पर पूरी सेना और खास तौर से घुड़सवार सेना का जागीरदारी प्रथा से घनिष्ठ संबंध था और उधर जागीरदारी प्रथा देश में प्रचलित कृषक भूमि-व्यवस्था से जुड़ी हुई थी। अब में देखें तो एक की (सेना की) शक्ति और कार्य-कुशलता दूसरे की (जागीर[illegible]की) शक्ति और कार्य-कुशलता पर निर्भर रहती थी।

अभ्यास

1. निम्नलिखित शब्दों तथा अवधारणाओं का अर्थ स्पष्ट कीजिए :
   तोमान, खान, शादी, इजारा, अमीर-ए-आज़म, अमीर-ए-उम्दा, जमा-दामी, अहदी, कारखाना, बरकंदाज़, तीरंदाज़, बंदूकची।
2. मुगल साम्राज्य के प्रादेशिक विस्तार में जहाँगीर और शाहजहाँ के योगदान का वर्णन कीजिए।
3. सोलहवीं सदी में मुगलों और उज़बेकों के आपसी संबंधों पर विचार कीजिए।
4. मुगल सेना के संगठन का वर्णन कीजिए। उसकी शक्ति और कमज़ोरियों पर विचार कीजिए।
5. अकबर के बाद मनसबदारी प्रणाली में हुए परिवर्तनों का विवेचन कीजिए।
6. औरंगज़ेब के शासनकाल तक मुगल साम्राज्य और ईरान से इसके संबंधों पर विचार कीजिए। कंदहार के मसले ने इन संबंधों को किस प्रकार प्रभावित किया?

7. यूरेशिया के मानचित्र की रूपरेखा पर सफावी, उज़्बेक और उस्मानिया साम्राज्यों का निर्देश कीजिए। पाठ में उल्लिखित सभी स्थानों और क्षेत्रों की एक सूची तैयार करके उन्हें मानचित्र में दर्शाइए।
8. दिल्ली सल्तनत और मुग़ल साम्राज्य के काल में अन्य देशों के साथ भारत के संबंधों के बारे में एक परियोजना तैयार कीजिए। इस परियोजना के अंग के रूप में भारत से बाहर की उन घटनाओं के बारे में टिप्पणियाँ और नक्शे तैयार कीजिए जिनका भारत पर असर पड़ा। इस संबंध में दिल्ली सल्तनत और मुगल साम्राज्य के मुख्य सरोकारों और उनके द्वारा अपनाई गई नीतियों पर विचार कीजिए। उनकी सफलताओं और असफलताओं का मूल्यांकन भी कीजिए।